UNIVERSAL LIBRARY

OU_178094
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H934 V85V

Accession No. P. G. H

Author विवेकानन्द, स्वामी.

Title वर्तमान भारत. 1949.

This book should be returned on or before the date last ma

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, सी. पी.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प चौदहवाँ

(सर्वाधिकार स्वरक्षित)

मुद्रक—
मेलाराम खन्ना,
ऑल इण्डिया रिपोर्टर प्रेस,
काँग्रेस नगर, नागपुर

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण) मूल्य — ६);
द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग–मूल्य—७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)–
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजुमदार, मूल्य ६);

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. **धर्मविज्ञान**	(प्रथम संस्करण)	१॥=)
१०. **कर्मयोग**	(प्रथम संस्करण)	१॥=)
११. **हिन्दू धर्म**	(प्रथम संस्करण)	१॥)
१२. **प्रेमयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१।=)
१३. **भक्तियोग**	(द्वितीय संस्करण)	१।=)
१४. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१५. **परिव्राजक**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१६. **प्राच्य और पाश्चात्य**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१७. **धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
१८. **शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
१९. **शिकागो वक्तृता**	(पञ्चम संस्करण)	॥=)
२०. **मेरे गुरुदेव**	(चतुर्थ संस्करण)	॥=)
२१. **हिन्दू धर्म के पक्ष में**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२२. **पवहारी बाबा**	(प्रथम संस्करण)	॥)
२३. **मेरा जीवन तथा ध्येय**	(प्रथम संस्करण)	॥)
२४. **मरणोत्तर जीवन**	(प्रथम संस्करण)	॥)

२५. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ॥=)

२६. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) ।≡)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—दो भागों में—प्रत्येक भाग का मूल्य—२॥)

३. **श्रीरामकृष्णवाक्सुधा** (द्वितीय संस्करण) — ॥=)

४. **श्रीरामकृष्ण परमहंस देव यांचें संक्षिप्त चरित्र**— –)॥

५. **शिकागो-व्याख्यानें** (द्वितीय संस्करण)—स्वामी विवेकानन्द ॥=)

६. **माझे गुरुदेव**—स्वामी विवेकानन्द ।)

७. **साधु नाग महाशय चरित्र** ॥)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी.

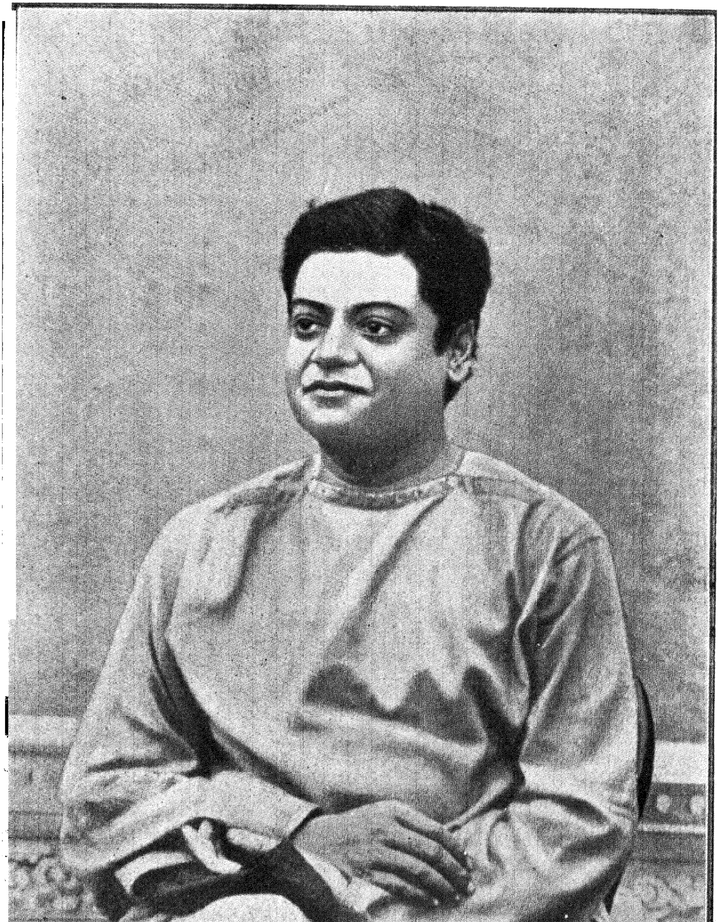

स्वामी विवेकानन्द

वर्तमान भारत

वैदिक पुरोहित मन्त्रबल से बलवान् थे। उनके मन्त्रबल से देवता आहूत होकर भोज्य और पानीय ग्रहण करते और यजमानों को वांछित फल प्रदान करते थे। इससे राजा और प्रजा दोनों ही अपने सांसारिक सुख के लिए इन पुरोहितों का मुँह जोहा करते थे। राजा सोम* पुरोहितों का उपास्य था। इसीलिए सोमाहुति चाहने वाले देवता जो मन्त्र से ही पुष्ट होते और वर देते थे, पुरोहितों पर प्रसन्न थे। दैव-बल के ऊपर मनुष्य-बल कर ही क्या सकता है? मनुष्य-बल के केन्द्र राजा लोग भी तो उन्हीं पुरोहितों की कृपा के भिखारी थे। उनकी कृपादृष्टि ही राजाओं के लिए काफी सहायता थी और उनका आशीर्वाद ही सर्वश्रेष्ठ राज-कर था। पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखा आज्ञायें देते, कभी मित्र बन सलाहें देते और कभी चतुर नीति के जाल बिछा उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार अपने वश में किया है। राजाओं को पुरोहितों से डरने का सबसे मुख्य कारण यह था कि उनका यश

मंत्र बल के आधार पर वैदिक पुरोहितों का सामर्थ्य तथा वैदिक युग में पुरोहित-शक्ति के सम्मुख राजशक्ति की आधीनता।

* सोमलता का वेदों में आया हुआ नाम।

Library

और उनके पूर्वजों की कीर्ति पुरोहितों की ही लेखनी के आधीन थी। राजा अपनी जिन्दगी में कितना ही तेजस्वी और कीर्तिमान् क्यों न हो, अपनी प्रजा का माँ-बाप ही क्यों न हो, पर उसकी वह अत्युज्ज्वल कीर्ति समुद्र में गिरी हुई ओस की बूंदों की तरह काल-समुद्र में सदा के लिए विलीन हो जाती थी। केवल अश्वमेधादि बड़े बड़े याग-यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले तथा बरसात के बादलों की तरह ब्राह्मणों के ऊपर धन की झड़ी लगानेवाले राजाओं के ही नाम इतिहास के पृष्ठों में पुरोहित-प्रसाद से जगमगा रहे हैं। आज देवताओं के प्रिय 'प्रियदर्शी धर्माशोक'* का नाम केवल ब्राह्मण्य-जगत् में रह गया है, पर परीक्षित के पुत्र जनमेजय का नाम बूढ़े, जवान सभी को अच्छी तरह मालूम है।

राजा और प्रजा।

राज्य-रक्षा, अपने भोग-विलास, अपने परिवार की पुष्टि और सबसे बढ़कर, पुरोहितों की तुष्टि के लिए राजा लोग सूर्य की भाँति अपनी प्रजा का धन सोख लिया करते थे। बेचारे वैश्य लोग ही उनकी रसद और दुधार गाय थे।

भारत में संगठित प्रजाशक्ति का अभाव।

प्रजा को कर उगाहने या राज्यकार्य में मतामत प्रकट करने का अधिकार न हिन्दू राजाओं के समय में था और न बौद्ध शासकों के ही समय में। यद्यपि महाराज युधिष्ठिर वारणावत में वैश्यों और शूद्रों के घर गये थे, अयोध्या की प्रजा ने श्रीरामचन्द्र

---

* बौद्धधर्म ग्रहण करने पर अशोक का पड़ा हुआ नाम।

को युवराज बनाने के लिए प्रार्थना की थी, सीता के वनवास तक के लिए छिप छिपकर सलाहें भी की थीं, तो भी प्रत्यक्ष रूप से, राज्य की प्रथा की तरह, प्रजा किसी विषय में मुँह नहीं खोल सकती थी। वह अपने सामर्थ्य को अप्रत्यक्ष और अव्यवस्थित रूप से प्रकट किया करती थी। उस शक्ति के अस्तित्व का ज्ञान उस समय भी उसे नहीं था। इसी से उस शक्ति को संगठित कर कार्यरूप में परिणत करने का उसमें न उद्योग था और न इच्छा ही। जिस कौशल से छोटी छोटी शक्तियाँ आपस में मिलकर प्रचण्ड बल संग्रह करती हैं, उसका भी पूरा अभाव था।

प्राचीन नियमों के मूलभूत ऋषिवाक्यों द्वारा प्रजाशक्ति के विकास में विघ्न।

क्या यह नियमों के अभाव के कारण था? नहीं! नियम और विधियाँ सभी थीं। कर-संग्रह, सैन्य-प्रबन्ध, विचारसम्पादन, दण्ड-पुरस्कार आदि सब विषयों के लिए सैकड़ों नियम थे, पर सब की जड़ में वही ऋषिवाक्य, दैवशक्ति अथवा ईश्वर की प्रेरणा थी। न उन नियमों में ज़रा भी हेर फेर हो सकता था, और न प्रजा के लिए यही सम्भव था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करती जिससे आपस में मिलकर लोक-हित के काम कर सकती, अथवा राज-कर की तरह लिए हुए अपने धन पर अपना स्वत्व रखने की बुद्धि उसमें उत्पन्न होती, या यही कि उसके आय-व्यय के नियमन करने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा उसमें होती।

फिर ये सब नियम पुस्तकों में थे। और कोरी पुस्तकों के

नियमों में तथा उनके कार्यरूप में परिणत होने में आकाश पाताल का अन्तर होता है। सैकड़ों अग्निवर्णों* के पश्चात् एक रामचन्द्र का जन्म होता है। जन्म से चण्डाशोकत्व दिखाने वाले राजा अनेक होते हैं। पर धर्माशोकत्व† दिखाने-वाले कम होते हैं। औरङ्गजेब जैसे प्रजा-भक्षकों की अपेक्षा अकबर जैसे प्रजा-रक्षकों की संख्या बहुत कम होती है।

ऋषिप्रणीत नियमावली श्रेष्ठ होते हुए भी राजशक्ति प्रजाशक्ति द्वारा नियमित न होने से प्रजा का मंगलामंगल राजा की प्रकृति पर निर्भर।

---

* अग्निवर्ण—एक सूर्यवंशी राजा था। यह अपनी प्रजा से मिलता नहीं था। रात दिन अन्तःपुर में ही रहा करता था। अत्यधिक इन्द्रियपरता के कारण उसे यक्ष्मा रोग हो गया और उसीसे उसकी मृत्यु हुई।

† धर्माशोक — भारतवर्ष का एकछत्र सम्राट् अशोक। इसने ईसा से करीब तीन सौ वर्ष पहले राज्य किया था। पहले यह बड़ा दुष्ट और निर्दय था। सिंहासन पर बैठने पर इसने राजघराने के अनेक लोगों को मार डाला था। इन कुकर्मों के कारण वह चण्डाशोक के नाम से प्रसिद्ध था। राजा होने के आठ वर्ष बाद इसने कलिंग देश पर चढ़ाई की। एक घमासान युद्ध हुआ जिसमें हजारों मनुष्य खेत रहे। अन्त में उसने उस देश को जीत लिया, पर मरने वालों की दारुण वेदना और रक्त की बही हुई धारा ने उसके हृदय के दो टुकड़े कर दिये। उसको ऐसा दुःख और पश्चात्ताप हुआ कि फिर उसने दूसरा युद्ध नहीं किया। उसकी पहली लड़ाई ही अन्तिम लड़ाई हुई। उसका स्वभाव दिन पर दिन बदलता गया और कुछ ही दिनों बाद उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इस धर्म के प्रचार के लिए उसने कुछ उठा नहीं रखा। उसने भिक्षुओं को स्याम, मिश्र, मकदूनियाँ आदि दूर दूर स्थानों में भेजकर बौद्ध धर्म का प्रचार तीन महाद्वीपों में अर्थात् एशिया, अफरीका और योरोप में कराया। इस धर्मानुराग और प्रजावात्सल्यता के कारण वह फिर "देवानां पियो पियदशि" (देवताओं का प्रिय प्रियदर्शन) धर्माशोक कहलाया। जिस चन्द्रगुप्त के प्रताप का हाल सुनकर महावीर सिकन्दर भी अपनी भारत-विजय की लालसा पूरी न कर पाया था, वह इसका दादा था।

रामचन्द्र, युधिष्ठिर, धर्माशोक अथवा अकबर जैसे राजा हों भी तो क्या? किसी मनुष्य के मुँह में यदि सदा कोई दूसरा ही अन्न डाला करता है तो उस मनुष्य की स्वयं हाथ उठाकर खाने की शक्ति क्रमशः लुप्त हो जाती है। सभी विषयों में जिसकी रक्षा दूसरों द्वारा होती है उसकी आत्मरक्षा की शक्ति कभी स्फुरित नहीं होती। सदा लड़कों की भाँति पलने से बड़े बलवान जवान भी लम्बे कद वाले लड़के ही बने रहते हैं। देवतुल्य राजा की बड़े यत्न से पाली हुई प्रजा भी कभी स्वायत्त शासन (Self-government) नहीं सीखती। सदा राजा का मुँह ताकते हुए वह धीरे धीरे कमज़ोर और निकम्मी हो जाती है। वही पालन और रक्षण बहुत दिनों तक रहने से सत्यानाश का कारण होता है।

स्वायत्तशासन के अभाव में प्रजानिरपेक्ष राजा देवतातुल्य होते हुए भी उसके द्वारा प्रजा की प्रारम्भ में उन्नति परन्तु क्रमशः अवनति।

जो समाज महापुरुषों के अलौकिक, अतीन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न शास्त्रों के अनुसार चलता है, उसका शासन राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, सब पर कायम रहना विचार से तो सिद्ध होता है, पर यह कार्यरूप में कहाँ तक परिणत हो सका है, यह ऊपर ही बताया जा चुका है। राजकार्य में प्रजा की अनुमति लेने की पद्धति जो आजकल के पाश्चात्य जगत् का मूल मन्त्र है और जिसकी अन्तिम वाणी

प्राचीन भारत में स्वायत्तशासन का किसी किसी स्थान पर किंचित् अस्तित्व, परन्तु विकास की दृष्टि से उसकी शून्यता।

अमेरिका के शासनपद्धति-पत्र में डंके की चोट पर सुनाई गई थी, कि "इस देश में प्रजा का शासन प्रजा द्वारा और प्रजा के हित के लिए होगा"—भारत में नहीं थी, यह बात भी नहीं है। यवन परिव्राजकों ने बहुत छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्य इस देश में देखे थे। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस बात का उल्लेख कहीं कहीं पाया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाँव-पंचायत में प्रजासत्ताक शासन-पद्धति का बीज अवश्य था और अब भी अनेक स्थानों में है, पर वह बीज जहाँ बोया गया वहाँ अंकुरित नहीं हुआ। यह भाव गाँव की पंचायत को छोड़कर समाज तक बढ़ ही नहीं सका।

बौद्ध यति तथा नागाओं में स्वायत्त-शासन।

धर्म-समाज के संन्यासियों में और बौद्ध भिक्षुओं के मठों में इस स्वायत्त शासन-पद्धति का पूरा विकास हुआ था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। नागा संन्यासियों में प्रत्येक मनुष्य के साम्प्रदायिक अधिकार को, पंचों की प्रभुता और प्रतिष्ठा को और उस सम्प्रदाय में समवाय-शक्ति के कामों को देखकर आज भी चकित होना पड़ता है।

बौद्ध विप्लव के साथ साथ पुरोहित-शक्ति का ह्रास और राज-शक्ति का विकास हुआ।

बौद्ध विप्लव के समय में राजशक्ति का

बौद्ध काल के पुरोहित संसार-त्यागी होते थे, मठों में वास करते तथा प्रपंच और झगड़ों से दूर रहा करते थे। राजाओं को अभिशाप या बाहुबल से अपने वश में रखने का उत्साह या इच्छा इन पुरोहितों

विकास ; भारत के एक-छत्री सम्राट्।

की नहीं थी। यदि थी भी तो वह पूरी नहीं हो सकती थी, क्योंकि आहुति-भोजी देवताओं की अवनति के साथ साथ उनकी भी प्रतिष्ठा घट रही थी। सैकड़ों ब्रह्मा और इन्द्र बुद्धत्व पाये हुए नर-देव के चरणों पर लोटते थे। — और इस बुद्धत्व में मनुष्यमात्र का अधिकार था।

इसलिए राज-प्रभुत्व रूपी बलवान यज्ञवाले घोड़े की बाग अब पुरोहितों की सख्त मुट्ठी में नहीं रही; अब वह अपने बल से स्वच्छन्द फिरने लगा। इस युग में शक्ति का केन्द्र सामगान और याग करने वाले पुरोहितों में नहीं रहा, और न राजशक्ति छोटी-छोटी रियासतों पर राज्य करने वाले भारत के बिखरे हुए क्षत्री राजाओं में ही रही। वे चक्रवर्ती सम्राट् जिनका राज्य देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विस्तृत था और जिनकी आज्ञा का विरोध करनेवाला कोई नहीं था—वे ही अब मानवशक्ति के केन्द्र बने। इस समय समाज के नेता वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि नहीं रहे वरन् चन्द्रगुप्त, अशोक आदि हुए। बौद्धकाल के सार्वभौम राजाओं की तरह भारत का गौरव बढ़ाने वाले दूसरे कोई राजा भारतवर्ष के तख्त पर नहीं बैठे। इस युग के अन्त में आधुनिक हिन्दू धर्म का और राजपूत आदि जातियों का अभ्युत्थान हुआ। इन लोगों के हाथ में भारत का राजदण्ड अपनी अखण्ड प्रतिष्ठा से गिरकर फिर टुकड़े टुकड़े हो गया। इस समय पुरोहित-शक्ति का फिर से अभ्युत्थान राजशक्ति के साथ सहकारी भाव से हुआ।

बौद्ध युग के अवसान में पुरोहित-शक्ति का पुनरुत्थान।

इस विप्लव के समय पुरोहित-शक्ति और राजशक्ति का वैदिक

काल से आया हुआ और जैन-बौद्धों के विप्लव में बहुत बढ़े चढ़े आकार में प्रकट वह पुराना वैर मिट गया। अब यह दोनों प्रबल शक्तियाँ एक दूसरे की सहायक हो गईं। परन्तु अब ब्राह्मणों में न वह तेज ही रहा और न क्षत्रियों में वह प्रचण्ड बल ही। एक दूसरे के स्वार्थ की सहायता तथा बौद्धों का नाम तक मिटाने में ही यह दो सम्मिलित शक्तियाँ अपने बल को गँवाती रहीं और तरह तरह से बँटकर प्राय: नष्ट सी हो गईं। दूसरों का रक्त चूसना, धन हरण करना, वैर चुकाना आदि इनका नित्य का काम था। ये प्राचीन राजाओं के राजसूय आदि यज्ञों की थोथी नकल किया करते, भाटों और चारणों आदि खुशामदियों के दल से घिरे रहते, और मन्त्र-तन्त्र के घोर शब्द-जाल में फँसे थे। इसका फल यह हुआ कि ये लोग पश्चिम से आये हुए मुसलमान व्याधों के सहज शिकार बन गए।

मुसलमान राज्य के पहले छोटी छोटी राजशक्तियों तथा पुरोहित-शक्ति का पारस्परिक साहाय्य।

जिस पुरोहित शक्ति की लड़ाई राजशक्ति के साथ वैदिक काल से ही चली आ रही थी, जिस शक्ति की प्रतिस्पर्धा को भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी अमानव प्रतिभा से अपने समय में मिटा सा ही दिया था, जो पुरोहित-शक्ति जैन और बौद्ध विप्लव के समय भारत के कर्मक्षेत्र से करीब करीब उठ गई थी, अथवा जिसने उन प्रबल प्रति-स्पर्धी धर्मों की पाबन्दी करके किसी तरह अपना दिन काटा था,

मुसलमान राज्य में पहले से ही दुर्बल पुरोहित-शक्ति का सम्पूर्ण नाश।

जिस पुरोहित-शक्ति ने मिहिरकुल* आदि के भारत विजय करने पर कुछ दिन तक अपना पहला अधिकार फिर प्राप्त करने के लिए पूरा प्रयत्न किया था, और उसके लिए मध्य एशिया से आये हुए निष्ठुर बर्बर सेनाओं के आधीन होकर उनकी घृणित रीति-नीतियों को अपने देश में प्रचलित किया था तथा साथ ही साथ जिस पुरोहित-शक्ति ने उन निरक्षर बर्बरों को प्रसन्न रखने के लिए ठगने के सरल उपाय मन्त्र-तन्त्रादिक की ही शरण ली थी और इस कारण अपनी विद्या, बल और सदाचार को बिलकुल खोकर आर्यावर्त को कुत्सित, गन्दे बर्बराचार का एक बड़ा दलदल बनाया एवं कुसंस्कार और अनाचार के निश्चित फलस्वरूप जो निस्सार और अत्यन्त दुर्बल हो गई थी, वही पुरोहित-शक्ति पश्चिम से आई हुई मुसलमान आक्रमण रूपी आँधी के स्पर्श मात्र से चूर चूर होकर भूमि पर गिर गई। अब फिर वह कभी उठेगी या नहीं कौन जाने?

मुसलमान धर्म-प्रवर्तक मुहम्मद के पुरोहितशक्ति के शत्रु होने तथा मूर्तिपूजक हिन्दुओं को काफिर कहने के कारण

मुसलमानों के समय में इस शक्ति का फिर सिर उठाना असम्भव था। मुहम्मद साहब स्वयं इसके पूरे विरोधी थे। उन्होंने इसे समूल नष्ट करने के लिए पूरी चेष्टा की थी और इसके लिए वे नियम आदि भी बना गये थे। मुसलमानों के राज्य में राजा स्वयं प्रधान पुरोहित रहा है। वही धर्मगुरु (खलीफा) रहा है और सम्राट् होने पर प्रायः सारे मुसलमान जगत् के

---

* राजपूतों का पूर्वपुरुष।

मुसलमान राज्य में पुरोहित कुल का सर्वनाश।

नेता होने की आशा रखता है। मुसलमानों के लिए यहूदी या ईसाई अधिक घृणा के पात्र नहीं हैं; वे केवल अल्प विश्वासी ही हैं पर हिन्दू लोग तो काफिर और मूर्तिपूजक होने से इस जीवन में बलिदान और मृत्यु के बाद अनन्त नर्क के भागी समझे जाते हैं। इन्हीं काफिरों के धर्मगुरुओं अर्थात् पुरोहितों को किसी प्रकार जीवन धारण करने की आज्ञा मात्र मुसलमान राजा दया से दे सकते थे और वह भी कभी कभी; नहीं तो जहाँ राजा की धर्मप्रियता की मात्रा ज़रा भी बढ़ी कि काफिरों की हत्या रूपी महायज्ञ का आयोजन हो जाता था।

एक ओर राजशक्ति अब विधर्मी और भिन्न आचारवाले प्रबल राजाओं में आई और दूसरी ओर पुरोहित-शक्ति अब समाज-शासन के ऊँचे पद से एकदम गिर गई।

मुसलमान राज्य में हिन्दुओं की अवस्था; प्रबल प्रतापी विधर्मी राजाओं द्वारा संचालित राजशक्ति; पुरोहितों का धर्मकर्म सम्बन्धी कामों में स्वल्प अधिकार।

कुरान की दण्डनीति अब मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के स्थान पर आ डटी! अरबी और फारसी भाषाओं ने संस्कृत की जगह ली। संस्कृत भाषा अब विजित और घृणित हिन्दुओं के धार्मिक कामों के ही काम की रही और इसीलिए पुरोहितों के हाथ में किसी तरह जीवन धारण करने लगी। पुरोहित-शक्ति अब विवाह आदि संस्कार कराकर ही सन्तोष मानने लगी और यह भी मुसलमान राजाओं की कृपादृष्टि रहने तक ही।

पुरोहित-शक्ति के दबाव के कारण राजशक्ति की स्फूर्ति वैदिक काल में और उसके कुछ दिनों बाद तक न हो सकी थी। हम लोग देख चुके हैं कि बौद्ध विप्लव के बाद किस प्रकार पुरोहित-शक्ति के विनाश के साथ ही भारत की राजशक्ति का पूर्ण विकास हुआ। बौद्ध साम्राज्य के पतन और मुसलमान साम्राज्य की स्थापना के बीच में राजपूतों ने राजशक्ति को पुनः स्थापित करने की जो चेष्टा की थी वह इसलिए असफल हुई कि पुरोहित-शक्ति ने इस समय फिर नया जीवन पाने का प्रयत्न किया था।

पुरोहित-शक्ति तथा राजशक्ति के पारस्परिक संघर्ष का संक्षिप्त इतिहास।

मुसलमान राजा पुरोहित-शक्ति को दबाकर ही मौर्य, गुप्त, आन्ध्र, क्षात्रप* आदि राजाओं की गौरव-श्री की छटा फिर से दिखा सके थे।

इस प्रकार भारत की पुरोहित-शक्ति जिसका नियन्त्रण कुमारिल, शङ्कर, रामानुज आदि ने किया था, जिसकी रक्षा राजपूतों आदि के बाहुबल से हुई थी और जिसने बौद्धों और जैनों का संहार कर पुनर्जीवन प्राप्त करने की चेष्टा की थी, वही शक्ति मुसलमान काल में मानो सदा के लिए सो गई। इस समय वैर-विरोध केवल राजा और राजा में ही रहा। इस काल के अन्त में जब हिन्दूशक्ति वीर महाराष्ट्रों या सिक्खों के हाथ आई और ये हिन्दूधर्म को किसी अंश में पुनः स्थापित कर सके, तब भी पुरोहित-शक्ति का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं था। सिक्खलोग तो जब किसी ब्राह्मण को

* आर्यावर्त और गुजरात के फारस से आये हुए सम्राट्।

अपने सम्प्रदाय में लेते हैं, तब उससे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-चिह्न का परित्याग कराकर उसे अपने धर्म-चिह्न से भूषित करते हैं।

इस प्रकार अनेक संघर्ष के बाद राजशक्ति की अन्तिम जय-घोषणा विधर्मी राजाओं के नाम पर भारत-गगन में कई शताब्दियों तक गूँजती रही, परन्तु इस युग के अन्त में एक नई शक्ति धीरे धीरे इस देश में अपना प्रभाव फैलाने लगी।

भारत में अभिनव शक्ति।

यह शक्ति भारतवासियों के लिए ऐसी नई है, और इसका जन्म-कर्म इतना कम समझ में आता है और इसका प्रभाव इतना प्रबल है कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसके राज्य करते रहने पर भी थोड़े से ही भारतवासी समझते हैं कि यह शक्ति कौन है।

यह बात भारत पर इङ्गलैण्ड के अधिकार की है।

इस विशाल देश का धन और हरा-भरा खेत विदेशियों के मन में बहुत पुराने समय से अधिकार की लालसा उत्पन्न करता आ रहा है। भारतवासी विजातियों द्वारा बारम्बार पददलित हुए हैं। तो फिर हम लोग भारत पर इङ्गलैण्ड के अधिकार को नया क्यों कहते हैं?

धर्म, मंत्र और शास्त्र के बल से बलवान, शाप रूपी अस्त्र से सज्जित तथा सांसारिक स्पृहाशून्य तपस्वियों के भ्रू-भंग के सामने प्रतापी राजाओं का काँपना भारतवासी सनातन काल से देखते आये हैं। फिर सेना

प्राचीन काल में इस देश में ब्राह्मण तथा

क्षत्रिय-शक्ति का प्रभाव; भारतवर्ष के वर्तमान शासक अंग्रेजों में ब्राह्मण और क्षत्रिय-शक्ति का अभाव तथा वैश्य-शक्ति का संचार।

और शस्त्रों से सजे हुए वीर राजाओं के अकुण्ठित वीर्य और एकाधिकार के सामने प्रजा का—सिंह के सामने बकरियों की भाँति—सिर झुकाये खड़ा रहना भी उन्होंने अवश्य देखा था। पर धनवान होकर भी जो वैश्य, राजाओं की कौन कहे, राजकुटुम्बियों तक के सामने सदा भयभीत हो हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उन्हीं में से कुछ लोगों का साथ मिलकर व्यापार करने की इच्छा से नदियाँ और समुद्र पारकर यहाँ आना और अपनी बुद्धि और धनबल से धीरे धीरे चिरप्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमान राजाओं को अपने हाथ की कठपुतलियाँ बना लेना, यही नहीं, धन के बल से अपने देश के राजकुटुम्बियों तक से अपना दासत्व स्वीकार कराकर उनकी शूरता और विद्या-बल को धन उपार्जन करने की अपनी कल बना लेना, और जिस देश के महाकवि की दिव्य लेखनी द्वारा चित्रित गर्वित लार्ड एक साधारण व्यक्ति से कहता है कि "दूर हो नीच! तू एक सरदार के पवित्र शरीर को छूने का साहस करता है!" — उसी देश के उन्हीं प्रतापी सरदारों के वंशजों का थोड़े ही समय में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नाम के वणिक-दल के आज्ञाकारी दास बनकर भारत में आने को परम गौरव समझना भारतवासियों ने कभी नहीं देखा था।

सत्त्व, रज आदि तीन गुणों के तारतम्य से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्ण उत्पन्न होते हैं और ये चारों वर्ण अनादि काल

ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों द्वारा पृथ्वी का यथा-क्रम भोग।

से सभी सभ्य समाज में विद्यमान हैं। काल-प्रभाव से और देशभेद से किसी वर्ण की शक्ति या संख्या दूसरों की अपेक्षा बढ़ अथवा घट सकती है, परन्तु संसार के इतिहास का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है, कि प्राकृतिक नियमों के वश ब्राह्मण आदि चारों वर्ण क्रम से पृथ्वी भोग करेंगे।

विभिन्न वर्णों का विभिन्न देश में तथा विभिन्न काल में शक्तिलाभ तथा शक्ति-ह्रास।

चीनी, सुमेरी, बाबुली, मिस्र, खलदियानिवासी, आर्य, इरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज की बागडोर प्रथम युग में ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ।

वैश्यों के या वाणिज्य से धनवान होनेवाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र पहले पहल इङ्गलैण्ड-प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है।

यद्यपि प्राचीन ट्रॉय और कार्थेज और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन वेनिस और अन्य छोटे छोटे व्यापार करने वाले देश बड़े ही प्रतापशाली हुए थे तो भी वैश्यों का यथार्थ अभ्युत्थान इन देशों में नहीं हुआ था।

पुराने समय में राज-घराने के लोग ही नौकरों और अन्य साधारण लोगों द्वारा व्यापार कराते थे और उसका लाभ अपने लिए लेते थे। इन इने गिने मनुष्यों को छोड़कर दूसरे किसी

को देशशासन आदि के कामों में मुँह खोलने का अधिकार नहीं था। मिस्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति थोड़े ही समय तक प्रधान-शक्ति रही। उसके बाद वह राज-शक्ति के आधीन और उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कंफ्यूसियस * की प्रतिभा द्वारा गटी हुई राज-शक्ति ढाई हजार वर्षों से अधिक पुरोहितशक्ति को अपनी इच्छानुसार चलाती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी सब प्रकार से चीनी सम्राट के आधीन होकर दिन काट रहे हैं।

भारत में राज-शक्ति की जय और उन्नति दूसरे पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसीलिए मिस्री, बाबलूनी और चीनी साम्राज्यों के बहुत दिनों बाद भारत-साम्राज्य स्थापित हुआ। एक यहूदी जाति में राजशक्ति अनेक चेष्टा करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर अपना अधिकार बिलकुल न जमा सकी। वैश्यों ने भी उस देश में कभी प्राधान्य नहीं पाया। प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छूटने की चेष्टा की थी। परन्तु भीतर ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर बलवान रोम साम्राज्य के दबाव से वह मृतप्राय हो गई।

जिस प्रकार पुराने युग में राजशक्ति के सामने ब्राह्मण-शक्ति को बहुत प्रयत्न करने पर भी हार माननी पड़ी, उसी प्रकार वर्तमान युग

---

* कंफ्यूसियस (Confucius)—चीन देश के एक प्राचीन धर्म और नीतिसंस्कारक।

वर्तमान युग में वैश्य शक्ति का प्राधान्य।

में हुआ। इस नई वैश्य-शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिए टूट गये। जो कई सिंहासन सभ्य देशों में किसी तरह बच गये वह इसलिए कि इससे इन्हीं नमक, तेल, चीनी या सुरा बेचनेवालों को अपने कमाये प्रचुर धन से अमीर और सरदार बनकर अपना गौरव दिखाने का मौका मिला।

वैश्य-शक्ति के ऊपर निर्धारित इङ्गलैण्ड का सिंहासन।

वह नई महाशक्ति जिसका राजपथ पहाड़ों जैसी ऊँची तरंगोंवाला समुद्र है, जिसके प्रभाव से बिजली बात की बात में एक मेरु से दूसरे मेरु तक खबर ले जाती है, जिसके प्रबन्ध से एक देश का माल दूसरे देश में अनायास पहुँच जाता है और जिसके आदेश से सम्राट् तक थर थर काँपते हैं, संसार-समुद्र के उसी सर्वजयी वैश्यशक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग की चोटीवाले सफेद झागों में इङ्गलैण्ड का सिंहासन विराजमान है।

इसलिए भारत पर इङ्गलैण्ड की विजय—जैसा हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसामसीह या बाइबिल की विजय नहीं है, और न पठान मुगल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसामसीह, बाइबिल, राजप्रसाद अनेक प्रकार से सजी सजाई बड़ी बड़ी सेनाओं का सगर्व कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि—इन सबके पीछे असली इङ्गलैण्ड विद्यमान है। उस इङ्गलैण्ड की ध्वजाएँ पुतलीघरों की चिमनियाँ हैं, उसकी सेना व्यापारी जहाज है, उसका लड़ाई का मैदान संसार का बाजार है और उसकी रानी स्वयं स्वर्णांगी लक्ष्मी है।

इसलिए इस नई महाशक्ति के संघर्ष से भारतवर्ष के भविष्य परिवर्तन का अनुमान करने में कठिनाई।

इसीलिए ऊपर कहा है कि भारत पर इङ्गलैण्ड का अधिकार एक बड़ी ही अपूर्व घटना है। इस नई महाशक्ति के संघर्ष से भारत में कौन कौन नये विप्लव और उसके फलस्वरूप कौन कौन नये परिवर्तन होंगे, इसका भारत के पूर्वकालिक इतिहास से अनुमान करना भी कठिन है।

यह पहले कहा जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों ही वर्ण यथाक्रम पृथ्वी का भोग करते हैं। प्रत्येक वर्ण के प्रभुत्व-काल में कुछ हितकर और कुछ अहितकर काम हो जाया करते हैं।

पुरोहित-शक्ति बुद्धिबल पर ही खड़ी है, न कि बाहुबल पर। इसलिए पुरोहितों के प्राधान्य के साथ साथ विद्या का प्रचार होता है।

मनुष्य-समाज के आदि गुरु अतीन्द्रियदर्शी पुरोहित।

इन्द्रियों की जहाँ गति नहीं, उस आध्यात्मिक जगत् की बात जानने और वहाँ की सहायता पाने के लिए मनुष्य सदा व्याकुल रहते हैं। साधारण लोगों का वहाँ प्रवेश नहीं। संयमी, इद्रियों के पार देखनेवाले और सत्त्वगुणी पुरुष ही उस राज्य में जाते हैं, वहाँ का समाचार लाते हैं और दूसरों को मार्ग दिखाते हैं। ये ही लोग पुरोहित हैं और मनुष्य-समाज के प्रथम गुरु, नेता और परिचालक हैं।

देववित् पुरोहित देववत् पूजे जाते हैं। चोटी का पसीना

एड़ी तक बहाकर उन्हें जीविका नहीं प्राप्त करनी पड़ती। सब भोगों में अग्रभाग देवताओं को प्राप्य है, और देवताओं के मुख पुरोहित हैं। समाज उन्हें जानकर या बिना जाने पूरा समय देता है, और इससे वे लोग चिन्ताशील हुआ करते हैं। इसी कारण पहले पहल विद्या की उन्नति पुरोहितों के प्राधान्य-काल में होती है। राजारूपी भयानक सिंह और प्रजारूपी भयभीत बकरों के बीच में पुरोहित ही खड़े रहते हैं। सिंह की सब कुछ नाश करने की इच्छा पुरोहितों के हाथ के अध्यात्म-बल रूपी डण्डे से रोकी जाती है। धन-जन के मद से मत्त राजाओं की यथेच्छाचार रूपी आग की लपट सब किसी को जला सकती है, परन्तु धनजनविहीन, तपोबल मात्र का भरोसा रखने वाले पुरोहितों के वचन रूपी पानी से वह आग बुझ जाती है। इनके प्रभुत्व-काल में सभ्यता का प्रथम आविर्भाव, पशुत्व के ऊपर देवत्व की प्रथम विजय, जड़ के ऊपर चैतन्य का प्रथम अधिकार और प्रकृति के खिलौने, मिट्टी के लोंदे जैसे मनुष्य-शरीर में छिपे हुए ईश्वरत्व का प्रथम विकास होता है। जड़ और चैतन्य को पहले पहल अलग करनेवाले, इहलोक और परलोक को मिलानेवाले, देव और मनुष्य के दूत, एवं राजा और प्रजा के बीच के पुल ये ही पुरोहित हैं। कितने ही कल्याणों के अंकुर इन्हीं के तपोबल से, इन्हीं के विद्या-प्रेम, इन्हीं के त्याग और इन्हीं के प्राणसिंचन से पनपते हैं। इसीलिए सब देशों में पहली पूजा इन्हीं ने पाई है और इसीलिए उनकी स्मृति भी हम लोगों के लिए पवित्र है।

पर साथ ही दोष भी हैं। प्राण-स्फूर्ति के साथ ही साथ मृत्युबीज भी बोया जाता है। अन्धकार और प्रकाश साथ ही

हमारे पुरोहितों की अवनति।

साथ चलते हैं। बहुत से ऐसे प्रबल दोष हैं जो, यदि उचित समय पर वे दूर न किये जायँ तो, समाज के विनाश के कारण हो जाते हैं। स्थूल पदार्थों द्वारा शक्ति का विकास सब कोई देखते हैं। अस्त्र-शस्त्र का छेदना, अग्नि आदि का जलाना या दूसरी क्रिया—ये सब बातें स्थूल प्रकृति के प्रबल संघर्ष में आकर सब कोई देखते और समझते हैं। इनमें किसी को सन्देह नहीं होता है, मन में द्विविधा तक नहीं रहती है। परन्तु जहाँ शक्ति का आधार या विकास-स्थान केवल मानसिक है, जहाँ बल किसी शब्द में या उसके विशेष उच्चारण या जप में है अथवा किसी दूसरे मानसिक प्रयोग में है, वहाँ प्रकाश अन्धकार के साथ मिला रहता है। वहाँ विश्वास का घटना और बढ़ना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष में भी कभी कभी वहाँ सन्देह हो जाता है। जहाँ रोग, शोक और भय को दूर करने या वैर साधने के लिए साधारण प्रत्यक्ष स्थूल उपायों को छोड़कर केवल स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण या मारण आदि का आश्रय लिया जाता है, वहाँ स्थूल और सूक्ष्म के बीच के इस कुहरे से ढँके रहस्यमय जगत् में वास करनेवालों के मन में भी मानों आपसे आप धुँधलाई घुस जाती है। ऐसे मन के सामने सरल रेखा प्रायः पड़ती ही नहीं। यदि पड़ती भी है तो मन उसे टेढ़ी कर लेता है। इसका फल यह होता है कि असरलता, हृदय की घोर संकीर्णता, अनुदारता और सबसे अधिक हानिकारक प्रचण्ड ईर्ष्या से पैदा हुई असहिष्णुता उनमें आ जाती है। पुरोहित के मन में यह विचार स्वाभाविक उठता है कि जिस बल से देवता मेरे वश में है,

रोग आदि के ऊपर मेरा अधिकार है, भूत-प्रेतादि के ऊपर मेरी विजय है, और जिसके बदले मुझे संसार का सुख-स्वाच्छन्द्य और ऐश्वर्य प्राप्त है, उसे मैं दूसरों को क्यों दूँ? फिर यह बल बिलकुल मानसिक है। उसे छिपाने में सुभीता कैसा है! इस घटना-चक्र में पड़कर मनुष्य का स्वभाव जैसा हो सकता है वैसा ही हो जाता है; सदा आत्मगोपन का अभ्यास करते करते स्वार्थपरता और कपटता आ जाती है और फिर उनके विषैले फल। कुछ समय बाद इस आत्मगोपन की प्रतिक्रिया भी उन पर आ पड़ती है। बिना अभ्यास और वितरण के प्रायः सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं और जो बच भी जाती हैं, वे अलौकिक दैवी उपाय से प्राप्त समझी जाने के कारण उनके सुधारने का प्रयत्न भी व्यर्थ समझा जाता है, नई विद्या सीखना तो अलग रहा। उसके बाद वह विद्याहीन, पुरुषार्थहीन और अपने पूर्वजों का नाम मात्र रखनेवाला पुरोहित-कुल अपने पैतृक अधिकार, पैतृक सम्मान और पैतृक आधिपत्य को बनाये रखने के लिए जिस तिस उपाय से यत्न करता है। इसीलिए उसका अन्य जातियों के साथ बड़ा विरोध होता है।

उस प्राकृतिक नियम के अनुसार जिसमें पुरानी क्षय होनेवाली शक्ति को जीतकर एक नई शक्ति उसका स्थान ले लेती है, वह संघर्ष आप ही आ जाता है। इस संग्राम का फल ऊपर बताया जा चुका है।

उन्नति के समय में पुरोहितों का जो संयम, तप और त्याग सत्य के खोज में पूरा पूरा लगा था, वही अवनति के पूर्वकाल में केवल भोग्य के संग्रह करने व अधिकार के फैलाने में व्यय होने

लगा। जिस शक्ति का आधार होने के कारण उनकी पूजा होती थी, वही शक्ति अब स्वर्ग से नरक को जा गिरी। अपने उद्देश्य को भूलकर पुरोहित-शक्ति रेशम के कीड़ों की तरह अपने ही जाल में आप फँस गई। जो बेड़ी दूसरों के पैरों के लिए अनेक पीढ़ियों से बड़े यत्न से गढ़ी जा रही थी, वही अब उन पुरोहितों की ही गति को सैकड़ों फेरों से रोकने लगी। बाह्य शुद्धि के लिए छोटे छोटे आचारों का जो जाल समाज को बुरी तरह फँसा रखने के लिए चारों ओर फैलाया गया था, उसी की रस्सियों में सिर से पैर तक फँसकर पुरोहित-शक्ति हताश-सी हो गई है। उससे निकलने का कोई उपाय भी नहीं दिखता है। इस जाल को काटने से पुरोहितों की पुरोहिताई बचती नहीं। जो पुरोहित इस कठोर बन्धन में अपनी स्वाभाविक उन्नति की इच्छा को बहुत दबी हुई देखते हैं और इसलिए इस जाल को काटकर अन्य जातियों की वृत्ति अवलम्बन कर धन उपार्जन करते हैं, उनकी पुरोहिताई के अधिकार को समाज तुरन्त छीन लेता है। आधी योरोपीय पोशाक और रहन-सहन, तथा फाड़ हुए बाल रखनेवाले ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व में समाज को विश्वास नहीं है। फिर भारत में यह नवागत पाश्चात्य राज्य-शिक्षा और धनार्जन की विभिन्न प्रणालियाँ जहाँ जहाँ फैल रही हैं, वहीं अपने वंशगत पुरोहित-व्यवसाय को छोड़कर हजारों ब्राह्मण युवक अन्य जातियों की वृत्ति अवलम्बन कर धनवान हो रहे हैं ; साथ ही उन पुरोहित पूर्वजों के आचार-व्यवहार एकदम रसातल को जा रहे हैं।

गुजरात में ब्राह्मणों के प्रत्येक अवान्तर सम्प्रदाय में दो भाग हैं। एक पुरोहित व्यवसायियों का और दूसरा अन्य वृत्तिवालों का।

पुरोहित-व्यवसायी सम्प्रदाय ही उस प्रान्त में ब्राह्मण कहलाता है। दूसरा सम्प्रदाय यद्यपि एक ही ब्राह्मण-कुल से उत्पन्न हुआ है तो भी पुरोहित ब्राह्मण उससे वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे "नागर ब्राह्मण" कहने से वे ही ब्राह्मण समझे जाते हैं जो भिक्षावृत्ति पुरोहित हैं, और केवल "नागर" कहने से वे जो राज-कर्मचारी या वैश्यवृत्त हैं। परन्तु अब यह दिखाई दे रहा है कि उस प्रान्त में भी यह भेद बहुत कुछ ढीला पड़ गया है। नागर ब्राह्मणों के लड़के भी अब अंग्रेजी पढ़ पढ़कर राज-कर्मचारी हो रहे हैं, या व्यापार आदि कर रहे हैं। संस्कृत चतुष्पाठियों के अध्यापक भी सब कष्ट सहकर अपने लड़कों को विश्वविद्यालयों में भेज रहे हैं और उनसे कायस्थों और वैश्य की वृत्ति का अवलम्बन करा रहे हैं। यदि स्रोत इसी प्रकार बहता रहा तो वर्तमान पुरोहित जाति कितने दिनों तक इस देश में और ठहर सकेगी, यह सोचने का विषय है। जो लोग किसी विशेष व्यक्ति या सम्प्रदाय पर ब्राह्मण जाति को अधिकारच्युत करने का दोष मढ़ते हैं, उन्हें भी जानना चाहिए कि ब्राह्मण-जाति अटल प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही अपना समाधि-मन्दिर आप ही बना रही है। यही कल्याणकर है, क्योंकि प्रत्येक ऊँची जाति का अपने ही हाथों से अपनी चिता बनाना प्रधान कर्तव्य है।

शक्ति के केन्द्रीभूत होने के सदृश ही उसके विकीरण की

शक्ति संचय जितना आवश्यक है, शक्ति-प्रसार भी उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का जमा होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि सारे शरीर में संचालन न हुआ तो मृत्यु निश्चय है। समाज के कल्याण के लिए कुल तथा

अत्यावश्यकता। जातिविशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिए परम आवश्यक है। परन्तु वह शक्ति सर्वत्र फैलने के लिए ही एकत्र हुई है। यदि वह न हुआ तो समाज-शरीर अवश्य तुरन्त ही नष्ट हो जायेगा।

क्षत्रिय शक्ति; इस शक्ति का केन्द्र राजा। दूसरी ओर, राजा में पशुराज के सब गुण-दोष विद्यमान हैं। क्षुधातृप्ति के लिए सिंह के विकराल नख आदि घासपात खानेवाले पशुओं के कलेजों को फाड़ने में तनिक भी देर नहीं करते; फिर कवि कहता है कि भूखा और बूढ़ा होने पर भी सिंह अपने चरणों पर गिरे हुए सियार को कभी नहीं खाता। राजा की भोगेच्छा में बाधा डालने से ही प्रजा का सत्यानाश होता है। यदि वह विनीत हो, राजा की आज्ञाएँ शिरोधार्य करे तो वह सकुशल है। केवल यही नहीं, समस्त समाज के एक ही अभिप्राय और प्रयत्न होने का अथवा सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ-त्याग का भाव किसी देश में, प्राचीन समय में तो क्या आज भी पूरी तरह उपलब्ध नहीं हुआ है। इसीलिए समाज ने राजा रूपी शक्ति-केन्द्र की सृष्टि की। समाज की शक्ति उसी केन्द्र में इकट्ठी होती और वहीं से चारों ओर सारे समाज में फैलती है। जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्राधान्यकाल में ज्ञानेच्छा का पहला उन्मेष और बचपन में उसका यत्नपूर्वक पालन हुआ, उसी प्रकार क्षत्रियों के प्रभुत्वकाल में भोगेच्छा की पुष्टि और उसकी सहायता करनेवाली शिल्प-कलाओं की सृष्टि तथा उन्नति हुई।

महिमान्वित राजा क्या पर्णकुटियों में अपना ऊँचा सिर छिपाये

रख सकता है, अथवा साधारण लोगों को मिलनेवाले भोज्यादि से क्या उसकी तृप्ति हो सकती है ?

नरलोक में जिसकी महिमा की तुलना नहीं है और जिसमें देवत्व भी आरोपित है, उसके भोग की वस्तुओं की ओर ताकना भी साधारण लोगों के लिए महापाप है, उनके पाने की इच्छा की तो बात ही क्या ? राज-शरीर साधारण शरीर जैसा नहीं है, उसे अशौच आदि दोष नहीं लगते, अनेक देशों में तो यह विश्वास है कि उस शरीर की मृत्यु भी नहीं होती है। इसलिए "असूर्यम्पश्यरूपा" राजमहिलाएँ भी परदों में रहा करती हैं, जिससे जन-साधारण की आँखें उन पर न पड़ें।

क्षत्रिय राज्य में सैकड़ों ललित कलाओं का अभ्युदय।

इस कारण पर्णकुटियों के स्थान पर अट्टालिकाएँ बनीं और गँवारू कोलाहल की जगह कला-कौशल वाले मधुर संगीत का पृथ्वी-पर आगमन हुआ। सुहावनी वाटिकाएँ, चित्त हरनेवाले चित्र, अच्छी मूर्तियाँ, महीन रेशमी कपड़े, ये सब धीरे-धीरे प्राकृतिक जङ्गलों का स्थान लेने लगे। लाखों बुद्धि-जीवी मनुष्य खेती के कठिन कामों को छोड़कर थोड़े शारीरिक श्रम से बननेवाली और सूक्ष्मबुद्धि का चमत्कार दिखानेवाली सैकड़ों कलाओं की ओर झुके। ग्राम का गौरव जाता रहा। नगर का आविर्भाव हुआ।

फिर भारतवर्ष में अनेक राजा विषय-भोग से ऊबकर अन्त में चले जाया करते थे और वहाँ रहकर अध्यात्म-विषय की गम्भीर

भारतवर्ष में क्षत्रिय राजाओं की अन्त में वैराग्यशीलता — उपनिषदादि ज्ञान-काण्ड की उत्पत्ति; कोरे कर्मकाण्डवादी पुरोहितों के साथ संघर्ष।

आलोचना किया करते थे। इतने भोगों के बाद वैराग्य अवश्य आयेगा। उस वैराग्य और गम्भीर दार्शनिक चिन्ता से अध्यात्म-तत्त्व में एकान्त अनुराग और मन्त्रबहुल क्रिया-काण्ड से अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती थी, जिसका परिचय उपनिषद्, गीता एवं जैन और बौद्ध धर्मग्रन्थ अच्छी तरह देते हैं। यहाँ पर भी पुरोहित-शक्ति और राजशक्ति में भारी कलह उपस्थित हुआ। कर्मकाण्ड के लोप होने से पुरोहितों का वृत्तिनाश होता है, इसीलिए उन प्राचीन रीति-नीतियों की प्राणपन से रक्षा करना सब युगों और देशों के पुरोहितों के लिए स्वाभाविक है। पर जनक जैसे बाहुबल और आध्यात्मिक-बल-सम्पन्न राजा उसके विरोध के लिए खड़े थे। उस बड़े संघर्ष की बात पहले कही जा चुकी है।

जिस प्रकार पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही इकट्ठी करना चाहते हैं उसी प्रकार राजा लोग भी समस्त पार्थिव शक्तियों को अपने में ही इकट्ठी करने का यत्न करते हैं। इन दोनों ही से लाभ है। दोनों यथासमय समाज के कल्याण के लिए आवश्यक हैं; पर वह केवल समाज के बचपन में। जवानी के शरीर में समाज को बलपूर्वक लड़कपन के कपड़े पहनाने से वह

समाज की बाल्यावस्था में सर्वविद्या-केन्द्रस्वरूप पुरोहितों तथा सर्वशक्ति-आश्रयस्वरूपराजाओं की अत्यावश्यकता।

— यौवनावस्था में उनकी अनुपयोगिता।

या तो अपने तेज-बल से उसे फाड़कर आगे बढ़ता है, अथवा उसमें यदि असमर्थ हुआ तो, धीरे धीरे फिर असभ्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

राजा अपनी प्रजा का माता-पिता है। प्रजा उसका बच्चा है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिए और राजा को भी

सब समाजों में यौवनावस्था में साधारण जनसमुदाय के सहित शक्तिमान शासनकारियों का संघर्ष।

पक्षातीत भाव से प्रजा का अपनी सन्तान की तरह पालन करना चाहिए। परन्तु जो नीति घर घर के लिए उययुक्त है वही सारे समाज के लिए भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय तब यदि पिता को उसके साथ मित्र की भाँति बरताव करना चाहिए, तो समाजरूपी बच्चा क्या सोलह वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता? इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य पहुँचता है, और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है।

यह विप्लव भारतवर्ष में भी बार बार हुआ करता है, पर धर्म के नाम से, क्योंकि यह देश धर्मप्राण है; धर्म ही इसकी

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में इस प्रकार के विप्लव का

भाषा और सब उद्योगों का चिह्न है। चार्वाक, जैन और बौद्ध, शङ्कर, रामानुज और चैतन्य के पन्थ, तथा कबीर, नानक,

अस्तित्व ; भारतवर्ष धर्मप्राण होने के कारण उसमें इन सब विप्लवों का धर्म के नाम पर उत्थान।

ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज आदि सभी सम्प्रदायों में धर्म की फेनमय, वज्र की भाँति गरजने वाली तरङ्गें सामने हैं, और सामाजिक अभावों की पूर्ति उनके पीछे है। यदि कुछ अर्थहीन शब्दों के उच्चारण से ही सारी कामनाएँ सिद्ध होती हैं, तो फिर अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए कौन कष्टसाध्य पुरुषकार का सहारा लेगा? और यदि यह रोग सारे समाज-शरीर में प्रवेश कर जाय तो समाज बिलकुल उद्यमहीन होकर सत्यानाश हो जायेगा। इसीलिए प्रत्यक्षवादी चार्वाकों की चुभनेवाली चुटकियाँ शुरू हुईं। पशुमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि विस्तृत कर्मकाण्ड के दम घोंटने वाले भार से समाज का उद्धार सदाचारी और ज्ञानाश्रयी जैनों के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? उसी तरह, बलवान अधिकारी जातियों के दारुण अत्याचार से निम्नश्रेणियों के मनुष्यों को बौद्ध विप्लव के अतिरिक्त और कौन बचा सकता था? कुछ समय के बाद जब बौद्ध धर्म का महान सदाचार घोर अनाचार में परिणत हुआ और साम्यवाद की अधिकता से उस सम्प्रदाय में आये हुए विविध बर्बर जातियों के पैशाचिक नाच से समाज काँपने लगा, तब पूर्व भाव को यथासम्भव पुनः स्थापित करने के लिए शङ्कर और रामानुज ने प्रयत्न किया। फिर कबीर, नानक, चैतन्य, ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज का यदि जन्म न होता, तो आज भारत में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान और ईसाइयों की संख्या निःसन्देह बहुत अधिक होती।

अनेक धातुओं द्वारा बने हुए इस शरीर तथा अनन्त भाव

तरङ्गवाले मन को बलिष्ठ बनाने के लिए पौष्टिक खाद्यपदार्थ के समान और दूसरी अच्छी चीज़ कौनसी है ? पर जो खाद्य शरीर-रक्षा और मन की बल-वृद्धि के लिए इतना आवश्यक है, उसका शेषांश यदि उचित समय पर शरीर से बाहर न निकाल दिया जाय, तो वही सब अनर्थों का कारण होजाता है।

समष्टि के ही सुख में व्यष्टि का सुख है, यही अनन्त सत्य जगत् का मूल आधार है। इस सत्य की कार्यपरिणति का फल सर्वविध उन्नति तथा कल्याण है।

समष्टि (समाज) के जीवन में व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन है; समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है; समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है, यही अनन्त सत्य जगत् का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुए उसके सुख में सुख और उसके दुःख में दुःख मानकर धीरे धीरे आगे बढ़ना ही व्यष्टि का एकमात्र कर्तव्य है। और कर्तव्य ही क्यों ? इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और उसका पालन करने से वह अमर होता है। प्रकृति की आँखों में धूल डालने का सामर्थ्य किसे है ? समाज की आँखों पर बहुत दिनों तक पट्टी नहीं बाँधी जा सकती। समाज के ऊपरी हिस्से में कितना ही कूड़ा-करकट क्यों न इकट्ठा हो गया हो, परन्तु उस ढेर के नीचे प्रेमरूप निःस्वार्थ सामाजिक जीवन का प्राणस्पन्दन होता ही रहता है। सब कुछ सहनेवाली पृथ्वी की भाँति समाज भी बहुत सहता है। परन्तु एक न एक दिन वह जागता ही है, और तब उस जागृति के वेग से युगों की इकट्ठी हुई मलिनता तथा स्वार्थपरता दूर जा गिरती है।

पाशविक प्रकृति के अज्ञानी मनुष्य हम हजारों बार ठगे जाकर भी इस महान सत्य में विश्वास नहीं रखते। हजारों बार ठगे जाकर भी हम लोग फिर ठगने की चेष्टा करते हैं। पागलों की तरह हम लोग सोचते हैं कि प्रकृति को हम धोखा दे सकते हैं। हम लोग अत्यन्त अल्पदर्शी हैं—समझते हैं कि स्वार्थ-साधन ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

परन्तु उस सत्य के सम्बन्ध में हमारा विस्मरण।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास इकट्ठा करती है, वह फिर बाँटने के लिए है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती; सौंपे हुए धन में आत्म-बुद्धि हो जाती है, बस इसी प्रकार सत्यानाश का सूत्रपात होता है।

राजा जो प्रजा-समष्टि का शक्ति-केन्द्र है, वह बहुत जल्दी भूल जाता है कि शक्ति उसमें इसलिए सञ्चित हुई है कि वह फिर लोगों में हजार गुनी बँट जाय। राजा वेण* की तरह वह सब देवत्व अपने में ही आरोपित कर दूसरों को हीन मनुष्य समझने लगता है। उसकी इच्छा का, चाहे वह भली हो या बुरी, विरोध करना ही महापाप है। इसलिए पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आप ही आ जाता है। यदि समाज बलहीन रहा, तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है, और राजा-प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होकर शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान्

राजशक्ति का मृत्यु-बीज कहाँ है।

* राजा वेण की कथा भागवत में आई है। यह अपने को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं से भी श्रेष्ठ बतलाता था। उसने यह आज्ञा दे

जाति के शिकार बन जाते हैं। पर यदि समाज-शरीर बलवान रहा, तो शीघ्र ही अत्यन्त प्रबल प्रतिक्रिया उपस्थित होती है—जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं, और सिंहासन अजायब घर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है।

वैश्य-शक्ति का विकास।

जिस शक्ति की भौंहें टेढ़ी होने पर महाराजा भी थर थर काँपते हैं, जिसके हाथ के सोने की थैली की आशा से राजा से रंक तक बगुलों की तरह पाँति बाँधे सिर झुकाये पीछे पीछे चलते हैं, उसी वैश्य-शक्ति का विकास पूर्वोक्त प्रतिक्रिया का फल है।

विद्या, अस्त्र और अर्थ के द्वारा ही यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का आधिपत्य।

ब्राह्मण ने कहा, "सब बलों का बल विद्या है, और वह विद्या मेरे आधीन है, इसलिए समाज मेरे शासन में रहेगा।" कुछ दिन ऐसा ही रहा। फिर क्षत्रिय ने कहा, "यदि मेरा अस्त्रबल न रहे तो तुम अपनी विद्या-बल सहित न जाने कहाँ चले जाओ। मैं ही श्रेष्ठ हूँ।" म्यान में तलवार झंझना उठी, और समाज ने उसके सामने सिर झुका दिया। विद्योपासक ब्राह्मण सब से पहले राजोपासक बने। वैश्य कहता है, "पागल, जिसको तुम

रखी थी कि पूजा मेरी ही हो। एक समय ऋषि लोग इसे कुछ सदुपदेश देने आये, जिससे उसका अहंकार दूर हो; पर इस मदान्ध राजा ने उनका तिरस्कार किया और उन्हें भी अपनी पूजा करने की आज्ञा दी। इस पर उन ऋषियों को बड़ा क्रोध आया और उसी क्रोधानल में पड़कर राजा पंचत्व को प्राप्त हुआ।

'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्' कहते हो, वही सर्वशक्तिमान् मुद्रा रूपी है, और वह मेरे ही हाथों में है। देखो, इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान् हूँ। ब्राह्मण, तुम्हारा तप, जप, विद्या, बुद्धि मैं इसके प्रभाव से अभी मोल ले लेता हूँ। और महाराज, तुम्हारा अस्त्र, शस्त्र, तेज, वीर्य इसकी कृपा से मेरी काम-सिद्धि के लिए बर्ता जायेगा। ये जो बड़े बड़े पुतलीघर और कारखाने तुम देखते हो, वे मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शूद्ररूपी मक्खियाँ उसमें रात-दिन मधु इकट्ठा करती है। परन्तु वह मधु कौन पीएगा? मैं। ठीक समय पर उसकी एक एक बूँद मैं निचोड़ लूँगा।

वैश्याधिकार के गुण-दोष।

जिस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उदय-काल में विद्या और सभ्यता का संचय हुआ था, उसी प्रकार वैश्यों के प्रभुत्व-काल में धन का संचय हुआ। जिस रुपये की झनक चारों वर्णों का मन हरण कर सकती है, वही रुपया वैश्यों का बल है। वैश्य को सदा इस बात का डर लगा रहता है कि कहीं उस धन को ब्राह्मण ठग न ले और क्षत्रिय जबर्दस्ती छीन न ले। इसी कारण अपनी रक्षा के लिए वैश्य लोग सदा एकमत रहते हैं। सूद रूपी कोड़ा हाथ में लिए वैश्य सबके हृदय में धड़कन उत्पन्न करता है। अपने रुपये के बल से राजशक्ति को दबाये रखने के लिए वह सदा व्यस्त है। वह इस बात से सदा सचेत रहता है कि राजशक्ति उसे धन-धान्य संचय करने में बाधा न डाले। परन्तु उसकी यह इच्छा बिलकुल नहीं होती कि यह राज-शक्ति क्षत्रियकुल से शूद्रकुल में चली जाय।

वणिक् किस देश में नहीं जाता ? स्वयं अज्ञ होकर भी वह व्यापार के अनुरोध से एक देश की विद्या, बुद्धि और कला-कौशल दूसरे देश में ले जाता है। जो विद्या, सभ्यता और कला-कौशलरूपी रक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अधिकार में समाज के हृत्पिण्ड में जमा हुआ था, वही अब वैश्यों के बाज़ारों की ओर जाने वाले राजपथ रूपी नसों द्वारा सर्वत्र फैल रहा है। वैश्यों का यह उत्थान यदि न होता, तो आज एक देश का भोज्य पदार्थ, सभ्यता, विलास और विद्या दूसरे देशों में कौन ले जाता ?

श्रमजीवी शूद्र जाति।

फिर जिनके शारीरिक परिश्रम पर ही ब्राह्मणों का आधिपत्य, क्षत्रियों का ऐश्वर्य और वैश्यों का धन-धान्य निर्भर है, वे कहाँ हैं ? समाज का मुख्य अङ्ग होकर भी जो लोग सदा सब देशों में 'जघन्यप्रभवो हि सः' कहकर पुकारे जाते हैं, उनका क्या हाल है ? जिनके विद्यालाभ जैसे महान अपराध के लिए भारत में 'जिह्वाच्छेद, शरीरभेद' आदि अनेक दण्ड प्रचलित थे, वहीं भारत के 'चलते फिरते मुरदे' और दूसरे देशों के 'भारवाही पशु' शूद्र किस दशा में हैं ?

भारत की वर्तमान शूद्रपूर्ण अवस्था ; भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों के

इस देश का हाल क्या कहा जाय ? शूद्रों की बात तो अलग रहा, भारत का ब्राह्मणत्व अभी गोरे अध्यापकों में है, और उसका क्षत्रियत्व चक्रवर्ती अङ्गरेजों में। उसका वैश्यत्व भी अङ्गरेजों की नस नस में है। भारतवासियों के लिए तो केवल भारवाही पशुत्व अर्थात शूद्रत्व ही रह गया।

शूद्रों की (उनके किसी अंश तक सचेतन होने पर भी) एकता के अभाव में शक्तिसम्पन्नता सम्बन्धी असमर्थता।

घोर अन्धकार ने अभी सबको समान भाव से ढँक लिया है। अभी चेष्टा में दृढ़ता नहीं है, उद्योग में साहस नहीं है, मन में बल नहीं है, अपमान से घृणा नहीं है, दासत्व से अरुचि नहीं है, हृदय में प्रीति नहीं है और प्राण में आशा नहीं है। और है क्या, केवल प्रबल ईर्ष्या, स्वजाति-द्वेष, दुर्बलों का जैसे तैसे करके नाश करने और कुत्तों की तरह बलवानों के चरण चाटने की विशेष इच्छा। इस समय तृप्ति धन और ऐश्वर्य दिखाने में है, भक्ति स्वार्थ-साधन में है, ज्ञान अनित्य वस्तुओं के संग्रह में है, योग पैशाचिक आचार में है, कर्म दूसरों के दासत्व में है, सभ्यता विदेशियों की नकल करने में है, वक्तृत्व कटु भाषण में है और भाषा की उन्नति धनिकों की बेढंगी खुशामद में या जघन्य अश्लीलता के प्रचार में है। जब सारे देश में शूद्रत्व भरा हुआ है तो शूद्रों के विषय में अलग क्या कहा जाय। अन्य देशों के शूद्र-कुल की नींद कुछ टूटी सी है, पर उनमें विद्या नहीं है। उसके बदले है उनका साधारण जाति-गुण—स्वजाति-द्वेष। उनकी संख्या यदि अधिक ही है तो क्या? जिस एकता के बल से दस मनुष्य लाख मनुष्यों की शक्ति संग्रह करते हैं, वह एकता अभी शूद्रों से कोसों दूर है। इसलिए सारी शूद्रजाति प्राकृतिक नियमों के अनुसार पराधीन है।

परन्तु फिर भी आशा है। काल के प्रभाव से ब्राह्मण आदि वर्ण भी शूद्रों का नीच स्थान प्राप्त कर रहे हैं, और शूद्र जाति

तथापि शूद्र जाति की उन्नति लाभ द्वारा उच्चवर्णाधिकारों पर आक्रमण करने की समर्थता — इसका दृष्टान्तस्वरूप इतिहास।

ऊँचा स्थान पा रही है। शूद्रों से भरे, रोम के दास यूरोप ने क्षत्रियों का बल प्राप्त किया है। महा बलवान् चीन हम लोगों के सामने ही बड़ी शीघ्रता से शूद्रत्व प्राप्त कर रहा है, और नगण्य जापान हवा की तरह शूद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है। यहाँ पर आजकल के यूनान और इटली के क्षत्रिय-पद पर उत्थान का और तुर्क, स्पेन, आदि के पतन का कारण भी सोचने का विषय है।

तो भी एक ऐसा समय आयेगा जब शूद्रत्व सहित शूद्रों का प्राधान्य होगा, अर्थात् आजकल जिस प्रकार शूद्रजाति वैश्यत्व

शूद्र के शूद्र रहने पर भी भविष्य में उनके शक्तिशाली होने की सम्भावना— इसका आभास साम्यवाद (Socialism) आदि द्वारा।

अथवा क्षत्रियत्व लाभ कर अपना बल दिखा रही है, उस प्रकार नहीं, वरन् अपने शूद्रोचित धर्म-कर्म सहित वह समाज में आधिपत्य प्राप्त करेगी। पाश्चात्य जगत् में इसकी लालिमा भी आकाश में दीखने लगी है, और इसका फलाफल-विचार कर सब लोग घबराये हुए हैं। सोश्यालिज्म *, अनार्किज्म†, निहिलिज्म‡ आदि सम्प्रदाय इस विप्लव की आगे चलने-

---

* सोश्यालिज्म (Socialism) एक मत है जिसमें लोकहित को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के ऊपर विशेषता दी जाती है। इसकी उत्पत्ति १८३५ ई० में यूरोप में हुई थी। इसका प्रचार अब यहाँ के सब देशों में हो रहा है। इस मत के कई भेद हैं। इसके माननेवालों का मुख्य उद्देश्य यह है कि

वाली ध्वजायें हैं। युगों से पिसकर शूद्र मात्र या तो कुत्तों की तरह बड़ों के चरण चाटनेवाले या हिंस्र पशुओं की तरह निर्दय हो गए हैं। फिर सदा से उनकी अभिलाषाएँ निष्फल होती आ रही हैं। इसलिए दृढ़ता और अध्यवसाय उनमें बिलकुल नहीं है।

शूद्रजाति की उन्नति में विषम विघ्न—गुणगत जाति।

पाश्चात्य जगत् में विद्या का प्रचार होने पर भी वहाँ शूद्रों के उत्थान में एक बड़ी अड़चन रह गई है। इसका कारण यह है कि वहाँ लोग गुणगत जाति मानते हैं। ऐसी ही गुणानुसार वर्णव्यवस्था इस देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी जिस कारण शूद्र जाति की उन्नति कभी हो ही नहीं सकती थी। एक तो शूद्रों को विद्या प्राप्त करने तथा धन संग्रह करने का सुभीता बहुत कम था। दूसरे, यदि एक दो असाधारण मनुष्य

देश के मूलधन और भूमि का स्वामी समाज हो, न कि व्यक्ति-विशेष; अन्न का उपजाना और उसे लोगों में बाटना समाज द्वारा हो; बालकों को भोजन और शिक्षा मुफ्त दी जाय, और पैतृक सम्पत्ति का हक उठा दिया जाय।

† अनार्किज्म (Anarchism)—इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक बकुनिन कहे जा सकते हैं जिनका जन्म १८१४ ई० में हुआ था। बाह्य कर्तृत्व या शासन के विरुद्ध आचरण करना इस मत का निचोड़ है। इस मत के माननवाले कहते हैं कि यदि मनुष्य अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार चले तो राजशासन या आईन की आवश्यकता नहीं है।

‡ निहिलिज्म (Nihilism)—यह मत अनार्किज्म के ही ऐसा है। कुछ साधारण अन्तर दोनों में है। इसका जन्म रूस देश में १८६२ ई० में हुआ था। वहीं इसका अधिक प्रचार है। इस मत के अनुसार तीन चीज़ें मिथ्या हैं—ईश्वर, गवर्नमेंट और विवाह।

शूद्रकुल में कभी उत्पन्न भी होते, तो उच्च वर्ण तुरन्त उन्हें उपाधियाँ देकर अपनी मण्डली में खींच लेता था। उनकी विद्या का प्रभाव और धन का हिस्सा दूसरी जातियों के काम आता था। उनके सजातीय उनकी विद्या, बुद्धि और धन से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते थे। इतना ही नहीं, वरन् कुलीनों के निकम्मे मनुष्य कूड़ा-करकट की तरह निकालकर शूद्रकुल में मिला दिये जाते थे।

वेश्यापुत्र वशिष्ठ* और नारद‡, दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल†, धींवर व्यास§, अज्ञातपिता कृप, द्रोण और कर्ण आदि सबने अपनी विद्या या वीरता के प्रभाव से ब्राह्मणत्व या क्षत्रियत्व पाया था। परन्तु इससे वेश्या, दासी, धींवर या सारथि-कुल का क्या लाभ हुआ, यह सोचने का विषय है। फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य-कुल से निकाले हुए मनुष्य सदा शूद्र-कुल में जा मिलते थे।

जन्मगत जाति के कल्याण तथा जाँति-

आजकल के भारत में शूद्र-कुल में उत्पन्न बड़े से बड़े या करोड़पति को भी अपना समाज छोड़ने का अधिकार नहीं है। इसका फल यह होता है कि उसकी विद्या-बुद्धि और धन का प्रभाव उसी जाति में रह जाता

---

* वशिष्ठ के पिता ब्रह्मा और माता अज्ञात थीं।
(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १७४ व ऋग्वेद ७।३३।११-१३)

‡ नारद की माता एक दासी और पिता अज्ञात था।
(श्रीमद्भागवत १।६)

† सत्यकाम जाबाल की माता एक दासी और पिता अज्ञात था।
(छान्दोग्य उपनिषद् ४।४)

§ व्यास के पिता ब्रह्मर्षि पराशर और माता एक धींवर की कन्या।
(महाभारत आदिपर्व अ० १०५)

निरपेक्ष राजशासन द्वारा भारतवर्ष की नीच जातियों की क्रमशः उन्नति।

है तथा उसी समाज का कल्याण करने में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस जन्मगत जाति की व्यवस्था से प्रत्येक जाति अपनी सीमा के बाहर जाने में असमर्थ होकर अपनी ही मण्डली के लोगों की धीरे-धीरे उन्नति कर रही है। जब तक भारतवर्ष में बिना जाति की परवाह किये दण्ड-पुरस्कार देनेवाला राजशासन रहेगा, तब तक नीच जातियों की इसी प्रकार उन्नति होती रहेगी।

समाज का नेतृत्व चाहे विद्या-बल से प्राप्त हुआ हो, चाहे बाहुबल से अथवा धनबल से, पर उस शक्ति का आधार प्रजा ही है।

सर्वशक्ति के आधार सामान्य जन-समुदाय से ही सम्बन्ध रखने वाले शासक-समाज का अभ्युदय तथा अन्यों का ह्रास।

शासक-समाज जितना ही इस शक्ति के आधार से अलग रहेगा, उतना ही वह दुर्बल होगा। परन्तु माया की ऐसी विचित्र लीला है कि जिनसे परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से, छल-बल-कौशल के प्रयोग से अथवा प्रतिग्रह द्वारा शक्ति प्राप्त की जाती है, उनकी ही गणना शासकों के निकट शीघ्र समाप्त हो जाती है। जब पुरोहित-शक्ति ने अपने को अपनी शक्ति के आधार प्रजावर्ग से अलग किया, तब प्रजा की सहायता पाने वाली उस समय की राजशक्ति ने उसे पराजित किया। फिर जब राजशक्ति ने अपने को सम्पूर्ण स्वाधीन समझकर अपने और अपनी प्रजा के बीच में एक गहरी खाई खोद डाली, तब साधारण प्रजा की कुछ अधिक सहायता पाने वाले वैश्य-कुल ने राजाओं को या तो नष्ट कर डाला या अपने हाथ की

कठपुतलियाँ बनाया। इस समय वैश्य-कुल अपनी स्वार्थसिद्धि कर चुका है, इसीलिए प्रजा की सहायता को अनावश्यक समझ वह अपने को प्रजावर्ग से अलग करना चाहता है। यहाँ इस शक्ति की भी मृत्यु का बीज बोया जा रहा है।

एकता का अभाव ही साधारण जन-समुदाय की निर्बलता का कारण है।

साधारण प्रजा सारी शक्ति का आधार होने पर भी उसने आपस में इतना भेद कर रखी है कि वह अपने सब अधिकारों से वंचित है, और जब तक ऐसा भाव रहेगा, तब तक उसकी यही दशा रहेगी, साधारण कष्ट, घृणा या प्रीति आपस में सहानुभूति का कारण होती है। जिस नियम से हिंस्र पशु दल-बद्ध हो शिकार करते फिरते हैं, उसी नियम से मनुष्य भी मिल कर रहते तथा जाति या राष्ट्र का संगठन करते हैं।

एकान्त स्वजाति-प्रेम और परजाति-विद्वेष राष्ट्र की उन्नति का एक प्रधान कारण है। इसी स्वजाति-प्रेम और परजाति-विद्वेष ने इरान-द्वेषी यूनान को, कारथेज-द्वेषी रोम को, काफिर-द्वेषी अरब जाति को, मूर-द्वेषी स्पेन को, स्पेन-द्वेषी फ्राँस को, फ्राँस-द्वेषी इङ्गलैण्ड और जर्मनी को तथा इङ्गलैण्ड-द्वेषी अमेरिका को उन्नति के शिखर पर चढ़ाया है।

स्वार्थ ही स्वार्थत्याग का पहला शिक्षक है। व्यष्टि के स्वार्थो की रक्षा के लिए ही समष्टि के कल्याण की ओर लोगों का ध्यान जाता है। स्वजाति के स्वार्थ में अपना स्वार्थ है, और स्वजाति के

हित में अपना हित। बहुत से काम कुछ लोगों की सहायता बिना किसी प्रकार नहीं चल सकते; आत्मरक्षा तक नहीं हो सकती। स्वार्थ-रक्षा के लिए यह सहकारिता सब देशों और जातियों में पाई जाती है। पर इस स्वार्थ की सीमा में हेर-फेर है। सन्तान उत्पन्न करने और किसी प्रकार पेट भरने का अवसर पाने से ही भारतवासियों की पूरी स्वार्थसिद्धि हो जाती है। हाँ, उच्च वर्णों के लिए इतना और है कि उनके धर्माचरण में कोई बाधा न पड़े। वर्तमान भारत में इससे बड़ी और महत्त्वाकांक्षा नहीं है। यही भारत-जीवन की सीढ़ी का सबसे अखीरी डण्डा है।

भारत की शासन-प्रणाली के गुण-दोष।

भारतवर्ष की वर्तमान शासन-प्रणाली में कई दोष हैं, पर साथ ही कई बड़े गुण भी हैं। सबसे बड़ा गुण तो यह है कि सारे भारत पर एक ऐसे शासन-यन्त्र का प्रभाव है, जैसा इस देश में पाटलिपुत्र साम्राज्य के पतन के बाद कभी नहीं हुआ। वैश्याधिकार की जिस चेष्टा से एक देश का माल दूसरे देश में लाया जाता है, उसी चेष्टा के फलस्वरूप विदेशी भाव भी भारत की नसों में बलपूर्वक घुस रहे हैं। इन भावों में कुछ तो बहुत ही लाभदायक हैं, कुछ हानिकारक हैं, और कुछ इस बात के परिचायक हैं कि विदेशी लोग इस देश का यथार्थ कल्याण करने में अज्ञ हैं।

भारतवर्ष की निद्रा-

परन्तु इन गुण-दोषों के भीतर से भविष्य के अशेष मङ्गल का यह चिह्न भी दीखता है कि इस विजातीय और प्राचीन स्वजातीय भाव के संघर्ष से बहुत दिनों

भंग का कारण—पाश्चात्य का संघर्ष; नियमों की अत्यधिकता से अवनति।

की सोई हुई जाति धीरे-धीरे जग रही है। उससे भूलें हों, तो भी कोई हानि नहीं। सभी कामों में भूल-भ्रम-प्रमाद ही हमारा उत्तम शिक्षक है। सत्य का पथ उसी को मिलता है जिससे भूलें होती हैं। वृक्ष से भूल नहीं होती, पत्थर को भ्रम नहीं होता, पशुओं में भी नियमविरुद्ध आचरण कम ही देखने में आते हैं, परन्तु यथार्थ ब्राह्मणों की उत्पत्ति भ्रम-प्रमाद से भरे मनुष्य-कुल में ही होती है। हम लोगों के लिए यदि दूसरे लोग ही बचपन से मृत्यु तक के सब कर्म और उठने के समय से सोने तक की सारी चिन्ताएँ निश्चित कर दें, और राजशक्ति का दबाव डालकर उन नियमों के कठोर बन्धन से हमें जकड़ दें, तो हम लोगों के लिए चिन्ता करने का और विषय रहा ही क्या? मननशील होने के कारण ही तो हम लोग मनुष्य हैं, मनीषी हैं और मुनि हैं। चिन्ताशीलता का लोप होते ही तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है, और जड़त्व आ जाता है। इस समय भी प्रत्येक धर्म-नेता और समाज-नेता समाज के लिए नियम बनाने में ही व्यस्त हैं! देश में क्या नियमों की कमी है? नियमों से पिसकर समाज जो अधोगति प्राप्त कर रहा है उसे कौन समझता है?

सम्पूर्ण स्वाधीन स्वेच्छाचारी राजा तथा प्रजा-नियमित

सम्पूर्ण स्वाधीन स्वेच्छाचारी राजा के आधीन विजित जाति विशेष घृणा का पात्र नहीं होती है। शक्तिशाली सम्राट् की सब प्रजाएँ समान अधिकार रखती हैं—अर्थात् किसी भी प्रजा को राजशक्ति के नियमन करने का अधिकार तनिक भी

राजा की शासन-प्रणाली की तुलना; प्रजा-नियमित राजा की प्रजा के कल्याण की अपेक्षा उसे अपने वश में रखने की अधिक चेष्टा।

नहीं है। ऐसी दशा में ऊँची जातियों को विशेष अधिकार कम ही रहते हैं। परन्तु जहाँ प्रजा-नियमित राजा प्रजातन्त्र या विजित जाति पर राज्य करता है, वहाँ विजयी और विजितों के बीच बड़ा अन्तर हो जाता है, और जो शक्ति विजितों के हित-साधन में पूरी तरह लगाई जाने पर थोड़े ही समय में उनका परम कल्याण कर सकती है, उसी शक्ति का बहुत-सा हिस्सा विजित जाति को वश में रखने की चेष्टा में व्यय किया जाता है और इस प्रकार वह व्यर्थ नष्ट हो जाता है। इसी कारण रोम के प्रजातन्त्र-शासन की अपेक्षा सम्राटों के शासनकाल में विजातीय प्रजा को अधिक सुख था। इसी कारण ईसाई धर्म-प्रचारक पाल (St. Paul) ने विजित यहूदी वंश में जन्म लेकर भी रोम के सम्राट् (Caesar) के पास अपने अपराध पर विचार कराने की आज्ञा पाई थी।

यदि कोई अंग्रेज हम लोगों को "काला" या "नेटिव" यानी असभ्य कहकर घृणा करे, तो इससे क्या? हम लोगों में

कुछ अंगरेज़ों की देशी लोगों (Natives) के प्रति घृणा-बुद्धि तथा हमारी आपस में जातिगत घृणा-बुद्धि।

तो उससे कहीं अधिक जातिगत घृणा-बुद्धि है। यदि ब्राह्मणों को किसी मूर्ख क्षत्रिय राजा की सहायता मिल जाय, तो यह कौन कह सकता है कि फिर वह शूद्रों का "जिह्वाच्छेद, शरीर-भेद" आदि करने की चेष्टा न करेंगे। पूर्वीय

आर्यावर्त में सब जातियाँ जो सामाजिक उन्नति के लिए आपस में कुछ सद्भाव रखते दीख पड़ती हैं, और महाराष्ट्र देश में ब्राह्मण जो 'मराठा' जाति की स्तुति करने लगे हैं, उसे छोटी जातियों के लोग अभी तक निःस्वार्थ भाव का फल नहीं समझते हैं।

भारतवासियों के कल्याणसाधन-चेष्टा की अपेक्षा व्यर्थ के 'गौरव' रक्षा की चेष्टा में अंग्रेज़ों का वृथा शक्तिक्षय; भारतवर्ष के जीतने तथा शासन करने के अंग्रेज़ों के प्रकृतिगत गुणों को कायम रखते हुए भी राजा तथा प्रजा का यथार्थ कल्याण होसकता है।

परन्तु अंग्रेज़ों के मन में यह धारणा होने लगी है कि भारत-साम्राज्य यदि उनके हाथों से निकल जाय तो अङ्गरेज जाति का सत्यानाश हो जायेगा। इसलिए भारत में इङ्गलैण्ड का अधिकार किसी न किसी प्रकार जमाये रखना ही होगा। और इसका उपाय, अङ्गरेज़ जाति का "गौरव" भारतवासियों के हृदय में सदा जागृत रखना समझा गया है। इस बुद्धि की प्रबलता और उसके अनुसार चेष्टा की अधिकाधिक वृद्धि देखकर हर्ष और खेद दोनों होते हैं। भारत में रहने वाले अंग्रेज़ शायद यह भूलते हैं कि जिस वीर्य, अध्यवसाय और एकान्त स्वजाति-प्रेम के बल से उन्होंने इस राज्य को लिया है, और सदा सचेत तथा विज्ञान की सहारा पाने वाली जिस वाणिज्य-बुद्धि से उन्होंने भारत जैसे सब प्रकार के धन उत्पन्न करने वाले देश को भी अंग्रेजी माल का बाजार बना रखा है, उन सब गुणों का जब तक उनके जातीय जीवन से लोप न होगा तब तक उनका सिंहासन अचल रहेगा। जब तक ऐसे गुण अंग्रेजों

में विद्यमान रहेंगे, तब तक भारत जैसे सैकड़ों राज्य चले भी जायँ तो क्या, फिर सैकड़ों राज्य प्राप्त हो जायँगे। परन्तु इन गुणों के प्रवाह का वेग यदि घट जाय, तो व्यर्थ "गौरव" की चिल्लाहट से क्या साम्राज्य पर शासन हो सकेगा? इसलिए इन गुणों की प्रबलता रहने पर भी अर्थहीन "गौरव" रक्षा के लिए इतनी शक्ति नष्ट करना व्यर्थ है। वह शक्ति यदि प्रजा के हित के कामों में लगाई जाय, तो वह राजा और प्रजा दोनों का ही कल्याण करेगी।

प्राच्य और पाश्चात्य।

ऊपर कहा जा चुका है कि परदेशियों के संघर्ष से भारत धीरे-धीरे जग रहा है। इस थोड़ी सी जागृति के फलस्वरूप स्वतन्त्र विचार का थोड़ा बहुत उदय भी होने लगा है। एक ओर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान है जिसका शक्ति-संग्रह सब की आँखों के सामने उसे प्रमाणित कर रहा है, और जिसकी चमक सैकड़ों सूर्यों की ज्योति की तरह आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती है। दूसरी ओर हमारे पूर्वजों का अपूर्व वीर्य, अमानवी प्रतिभा और देव-दुर्लभ अध्यात्म-तत्त्व की वे कथायें हैं, जिन्हें अनेक स्वदेशी और विदेशी विद्वानों ने प्रकट किया है, जो युगयुगान्तर की सहानुभूति के कारण समस्त समाज-शरीर में जल्दी दौड़ जाती हैं और बल तथा आशा प्रदान करती हैं। एक ओर जड़-विज्ञान, प्रचुर धन-सम्पत्ति, प्रभूत बलसञ्चय और उत्कट इन्द्रिय-सुख विदेशी भाषा में कोलाहल मचा रहे हैं, दूसरी ओर इस कोलाहल को फाड़ता हुआ क्षीण परन्तु मर्मभेदी स्वर से युक्त पूर्वीय देवताओं का आर्तनाद

सुनाई पड़ता है। एक समय हमारे सामने ये दृश्य आते हैं—सुन्दर बढ़िया तथा ठीक ढंग से सजाया हुआ भोजन, उमदा पेय, बेशकीमती लिबास, ऊँचे ऊँचे बड़े बड़े महल तथा नए नए ढंग की गाड़ियाँ सवारियाँ आदि, नए नए अदब कायदे तथा नए नए फैशन जिनके अनुसार सजधजकर हमारे सामने आजकल की शिक्षित लड़कियाँ काफी निर्लज्जतापूर्ण स्वतंत्रता से घूमती फिरती हैं। ये सब सामग्रियाँ न जाने कितनी नई नई इच्छायें तथा वासनाएँ उत्पन्न करती हैं। परन्तु फिर यह दृश्य बदलकर इसके स्थान में एक दूसरा गम्भीर दृश्य आजाता है और वह है सीता, सावित्री, व्रत-उपवास, तपोवन, जटाजूट, वल्कल तथा गैरिक वस्त्र, कौपीन, समाधि एवं आत्मोपलब्धि की सतत चेष्टा। एक ओर पाश्चात्य समाज की स्वार्थपर स्वाधीनता है, और दूसरी ओर आर्यों का कठोर आत्म-बलिदान। इस विषम संघर्ष से समाज जो डगमगा उठेगा, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? पाश्चात्य जगत् का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वाधीनता है, भाषा अर्थकरी विद्या है, और उपाय राष्ट्रनीति (Politics) है। भारत का उद्देश्य मुक्ति है, भाषा वेद है और उपाय त्याग है। वर्तमान भारत मानों एकबार सोचता है कि भविष्य के संदिग्ध पारमार्थिक हित के मोह में पड़कर मैं इस लोक का व्यर्थ सत्यानाश कर रहा हूँ; फिर मन्त्र-मुग्ध की तरह सुनता है—

इति संसारे स्फुटतरदोषः।
कथमिह मानव तव सन्तोषः॥

"संसार में ये सब दोष भरे पड़े हैं। ऐ मनुष्यो, यहाँ तुम्हें सन्तोष कैसे हो सकता है?"

एक ओर नया भारत कहता है कि हमको पति-पत्नी चुनने में पूरी स्वतन्त्रता चाहिए, क्योंकि जिस विवाह पर हमारे भविष्य जीवन का सारा सुख:दुख निर्भर है, उसका हम अपनी इच्छा से चुनाव करेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत की आज्ञा होती है कि विवाह इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं, वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिए है। इस देश की यही धारणा है। सन्तान उत्पन्न करके समाज के भविष्य हानि-लाभ के तुम कारण हो, इसलिए जिस प्रणाली से विवाह करने में समाज का सबसे अधिक कल्याण होना सम्भव है वही प्रणाली समाज में प्रचलित है। तुम समाज के सुख के लिए अपने सुखभोग की इच्छा त्यागो।

एक ओर नया भारत कहता है कि पाश्चात्य भाव, भाषा, खानपान और वेश-भूषा का अवलम्बन करने से ही हम लोग पाश्चात्य जातियों की भाँति शक्तिमान हो सकेंगे। दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि मूर्ख ! नकल करने से भी कहीं दूसरों का भाव अपना हुआ है ? बिना उपार्जन किये कोई वस्तु अपनी नहीं होती। क्या सिंह की खाल पहनकर गधा कहीं सिंह हुआ है ?

एक ओर नवीन भारत कहता है कि पाश्चात्य जातियाँ जो कुछ कर रही हैं, वही अच्छा है। अच्छा नहीं है तो वे ऐसे बलवान् कैसे हुए ? दूसरी ओर प्राचीन भारत कहता है कि बिजली की चमक तो खूब होती है, पर क्षणिक होती है। बालक ! तुम्हारी आँखें चौंधिया रही हैं, सावधान !

तो क्या हमें पाश्चात्य जगत् से कुछ भी सीखने को नहीं है ?

क्या हमें चेष्टा या यत्न करने की ज़रूरत ही नहीं है ? क्या हम सब प्रकार पूरे हैं ? क्या हमारा समाज सब भाँति निश्छिद्र है ? नहीं, सीखने को बहुत कुछ है। यत्न तो हमें जीवन भर करना चाहिए। यत्न ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे, "जब तक जीऊँ, तब तक सीखूँ।" जिस व्यक्ति या समाज को कुछ सीखना नहीं है, वह मृत्यु के मुँह में जा चुका। सीखने को तो है, परन्तु भय भी है।

पर फिर भी पाश्चात्य जगत् से सीखने को बहुत कुछ है।

एक कम बुद्धिवाला लड़का श्रीरामकृष्ण देव के सामने सदा शास्त्रों की निन्दा किया करता था। उसने एकबार गीता की बड़ी प्रशंसा की। इस पर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "किसी अङ्गरेज़ विद्वान् ने गीता की प्रशंसा की होगी। इसीलिए यह भी उसकी प्रशंसा कर रहा है।"

ऐ भारत ! यही विकट भय का कारण है। हम लोगों में पाश्चात्य जातियों की नकल करने की इच्छा ऐसी प्रबल होती जाती है कि भले-बुरे का निश्चय अब विचार-बुद्धि, शास्त्र या हिताहित-ज्ञान से नहीं किया जाता। गोरे लोग जिस भाव और आचार की प्रशंसा करें वही अच्छा है और वे जिसकी निन्दा करें, वही बुरा ! अफसोस ! इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और क्या होगा ?

परन्तु पाश्चात्य अनुकरण-मोह के त्याग की आवश्यकता।

पाश्चात्य स्त्रियाँ स्वाधीन भाव से फिरती हैं इसलिए वही

चाल अच्छी है; वे अपने लिए वर आप चुन लेती हैं, इसलिए यही उन्नति की सीमा है; पाश्चात्य पुरुष हम लोगों के वेश-भूषा, खान-पान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए हमारी ये चीज़ें बहुत बुरी हैं; पाश्चात्य लोग मूर्तिपूजा को खराब कहते हैं, तो वह भी बड़ी ही खराब होगी, क्यों न हो ?

पाश्चात्य लोग एक ही देवता की पूजा को कल्याणप्रद बताते हैं, इसलिए अपने देव-देवियों को गंगा में फेंक दो। पाश्चात्य लोग जाति-भेद को घृणित समझते हैं इसलिए सब वर्णों को मिलाकर एक कर दो। पाश्चात्य लोग बाल्यविवाह को सब अनर्थों का कारण कहते हैं, इसलिए वह भी अवश्य ही बड़ा खराब होगा।

यहाँ पर हम इस बात का विचार नहीं करते कि ये प्रथाएँ चलनी चाहिए अथवा रुकनी चाहिए। परन्तु यदि पाश्चात्य लोगों की घृणा-दृष्टि के कारण ही हमारे रीति-रिवाज बुरे साबित होते हों तो उसका प्रतिवाद अवश्य होना चाहिए।

वर्तमान लेखक को पाश्चात्य समाज का कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसी से उसका विश्वास है कि पाश्चात्य समाज और भारत समाज की मूल गति और उद्देश्य में इतना अन्तर है कि यहाँ जो कोई समाज पाश्चात्यों का अनुकरण कर निर्माणित होगा, वही इस देश में व्यर्थ होगा। जो लोग पाश्चात्य समाज में नहीं रहे हैं, और वहाँ की स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्त्रियों और पुरुषों के आपस में मिलने के जो नियम और बाधाएँ प्रचलित हैं, उन्हें बिना जाने जो अपनी स्त्रियों को पुरुषों से बिना रोक-टोक के मिलने देते हैं उन लोगों से हमारी रत्ती भर भी सहानुभूति नहीं है।

पाश्चात्य देशों में भी मैंने देखा है कि दुर्बल जातियों की सन्तान जब इङ्गलैण्ड में जन्म लेती है तो अपने को वह स्पेनी, पोर्तुगाली, यूनानी आदि—जो वह हो—न बताकर अङ्गरेज़ ही बताती है। बलवान् की ओर सब कोई दौड़ता है। दुर्बल-मात्र की यह इच्छा रहती है कि बड़े लोगों के गौरव की छटा उसके शरीर में कुछ लग जाय। भारतवासियों को जब मैं अङ्गरेज़ी वेश-भूषा में देखता हूँ, तब समझता हूँ कि ये लोग शायद पद-दलित, विद्याहीन, दरिद्र भारतवासियों के साथ अपनी सजातीयता स्वीकार करने में लज्जित होते हैं। चौदह सौ वर्ष तक हिन्दुओं के रक्त से पलकर भी पारसी लोग अब "नेटिव" नहीं हैं! जातिहीन और अपने को ब्राह्मण बताने वाली जातियों के जात्यभिमान के निकट बड़े-बड़े कुलीन ब्राह्मणों तक का जात्यभिमान कपूर की तरह उड़कर बिला जाता है। फिर पाश्चात्यों ने अब हमें यह भी सिखलाया है कि यह जो कमर में ही कपड़ा लपेटने वाली मूर्ख नीच जाति है वह अनार्य है!! इसलिए वे लोग हम लोगों के बन्धु नहीं हैं!!!

'माँ मुझे मनुष्यत्व दो।'

ऐ भारत! क्या दूसरों की ही हाँ में हाँ मिलाकर, दूसरों का ही नकलकर, दूसरों का ही मुँह ताककर इस दासों की सी दुर्बलता, इस घृणित, जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े बड़े अधिकार प्राप्त करोगे? क्या इसी लज्जास्पद कापुरुषता से तुम वीरभोग्य स्वाधीनता प्राप्त करोगे? ऐ भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि

तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए—नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही "माता" के लिए बलि-स्वरूप रखे गये हो, मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं! ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारत-वासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सब मेरे भाई हैं; तुम भी केवल कमर में ही कपड़ा लपेट गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रातदिन कहते रहो कि—"हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो। माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, माँ मुझे मनुष्य बना लो।"

मूल्य ८ आ.